विश्वविद्यालयों का रूप*

रवींद्रनाथ टैगोर*

अपरिचित आसन से एक अनभ्यस्त कर्तव्य पूरा करने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय ने मुझे आमंत्रित किया है। इसके प्रत्युत्तर में मैं अपना सादर अभिवादन व्यक्त करता हूँ। ऐसे मौकों पर अपनी त्रुटियों का उल्लेख करना एक आडम्बर-सा हो गया है। लेकिन यह प्रथा और उसके अलंकार वस्तुतः शोभनीय नहीं है - और न उससे कोई काम निकलता है। कर्तव्य क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले ही क्षमा याचना करने से लोगों का मन अपने अनुकूल बनाया जा सकता है, यह आशा व्यर्थ है। और ऐसे व्यर्थ विचार से मैं अपने-आपको भुलावा नहीं देना चाहता। क्षमा-प्रार्थना से अयोग्यता में संशोधन नहीं हो सकता, केवल उसे स्वीकार किया जा सकता है। अनुदार लोग उसे विनय नहीं समझते, आत्मग्लानि ही समझते हैं। जिस काम के लिए मुझे आमन्त्रित किया गया है उसके संबंध में मेरी कितनी क्षमता है, यह तो सभी को विदित है। इसलिए मैं समझता हूँ, विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने इस कार्य के लिए मेरी उपयुक्तता के बारे में पहले ही विचार कर लिया होगा। इस व्यवस्था में कुछ नयापन है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि विश्वविद्यालय में आजकल किसी नवीन संकल्प का प्रस्ताव हुआ है। सम्भवतः यह नया संकल्प बड़ा महत्वपूर्ण है और मैं स्पष्ट रूप से उसको उपलब्ध करना चाहता हूँ।

दीर्घकाल से साधारण लोगों की दृष्टि में मेरा परिचय एक विशेष रूप से होता आया है। मैं साहित्यिक हूँ, इसलिए साहित्यिक की हैसियत से ही मुझे यहाँ बुलाया गया है, यह बात माननी ही पड़ेगी। 'साहित्यिक' की उपाधि मेरे लिए कोई उद्वेगहीन विषय नहीं है, यह बात बहुत दिनों की कठोर अनभिज्ञता से मैं जान गया हूँ। साहित्यकों को जो आदर मिलता है वह रुचि पर निर्भर होता है, युक्ति पर नहीं। यह बुनियाद कहीं मजबूत है तो कहीं कच्ची, सभी स्थानों पर वह समान बोझ नहीं उठा सकती। कवि की कीर्ति स्तम्भ की तरह नहीं, नौका की तरह

* *रवींद्रनाथ के निबंध*, (अनुवादक-विश्वनाथ नरवणे), साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, 1990 से साभार प्रकाशित

होती है। भँवरों को पार करते हुए काल-स्रोत की सभी परीक्षाओं और संकटों में यदि वह नौका उत्तीर्ण हो सके, और अन्त में यदि उसे लंगर डालने के लिए अच्छा-सा घाट मिल जाय, तभी साहित्य के स्थायी इतिहास-ग्रंथ के किसी पृष्ठ पर उसका नाम अंकित होता है। तब तक अनुकूल-प्रतिकूल हवा के आघात सहते-सहते उसे लहरों पर चलते रहना है। महाकाल के दरबार में अन्तिम सुनवाई का क्षण बार-बार नहीं आता। वैतरणी पार करने के बाद ही न्याय सभा में प्रवेश मिलता है।

विश्वविद्यालय विद्वानों का आसन है, यह बात चिरप्रसिद्ध है। पांडित्य के इस गंभीर आसन पर अचानक एक साहित्यिक को बिठाया गया है। इस रीति-विपर्यय ने निश्चय ही सबका ध्यान आकृष्ट किया होगा। बहुत से लोगों की तीक्ष्ण दृष्टि मुझ पर है। ऐसे कठिन मार्ग पर चलना मुझसे कहीं अधिक साहसी व्यक्तियों के लिए दु:साध्य होगा। यदि में विद्वान होता तो लोगों की सम्मति-असम्मति के द्वन्द्व के बावजूद पथ की बाधाएँ मुझे कठिन न लगतीं। लेकिन स्वभाव और अभ्यास दोनों से मेरा व्यवहार 'अव्यवसायी' है। मैं बाहर से आया हुआ आगंतुक हूँ, इसलिए प्रश्रय की आशा नहीं कर पाता।

लेकिन मुझे दिये गए आमन्त्रण में ही अभयदान प्रच्छन्न है, और इससे मुझे आश्वासन मिला है। निस्संदेह मैं यहाँ ऐसे समय आया हूँ जब ऋतु परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। पुरातन के साथ मेरी असंगति हो सकती है, लेकिन नवोद्यम शायद मुझे अपने अनुचरों में स्वीकार करते हुए अप्रसन्न न होगा।

विश्वविद्यालय के कर्मक्षेत्र में पदार्पण करते हुए इस बात की चर्चा करना दूसरों के लिए चाहे आवश्यक न हो, विषय का स्पष्टीकरण मेरे अपने लिए ज़रूरी है। मुझको साथ लेकर जो व्रत आरंभ हुआ है उसकी भूमिका को स्थिर कर लेना मैं आवश्यक समझता हूँ।

विश्वविद्यालय एक विशेष साधना का क्षेत्र है। साधारण रूप से इसे विद्या की साधना कहा जा सकता है। इतना कहने से ही बात स्पष्ट नहीं हो जाती, क्योंकि 'विद्या' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है और विद्या की साधना वैचित्र्यपूर्ण है।

हमारे देश के विश्वविद्यालयों का एक विशिष्ट आकार क्रमश: परिणत हुआ है । इस आकार का मूल भारत के आधुनिक इतिहास में छिपा है और इसकी विस्तृत चर्चा यहाँ अप्रासंगिक न होगी। बाल्यकाल से जो लोग विद्यालय के निकट संपर्क में रहे हैं उनके लिए अपने अभ्यास और ममता के बेष्टन से बाहर निकलकर एक विशाल कालखंड की पृष्ठभूमि में विद्यालय को देखना कठिन हो जाता है। लेकिन मेरे साथ यह व्यक्तिगत कठिनाई नहीं है, क्योंकि मेरा विद्यालयों के साथ सामीप्य या अभ्यास का संबंध नहीं रहा। मेरे अनासक्त मन में विश्वविद्यालय का जो स्वरूप प्रतिभासित हुआ है वह सबके लिए चाहे स्वीकाररीय न हो, विचारणीय अवश्य होगा।

यह कहना न होगा कि जिसे यूरोप में 'यूनिवर्सिटी' कहा जाता है वह विशेष रूप से यूरोप की ही चीज़ है। यूनिवर्सिटी के जिस रूप के साथ हम आधुनिक काल में परिचित हैं, और जिसके साथ आधुनिक शिक्षित समाज का व्यावहारिक संपर्क है, वह पूर्णतया विदेशी है – उसकी जड़ें भी विलायती हैं और शाखाएँ भी। अपने देश के बहुत-से फलवृक्षों को हम विलायती कहते हैं, लेकिन देशी पेड़ों के साथ उनका केवल 'पारिवारिक' भेद होता है, प्रकृतिगत भेद नहीं होता। लेकिन विश्वविद्यालयों के बारे में हम यह नहीं कह सकते। उनका नामकरण और रूपकरण देश की परंपराओं के अनुगत नहीं हुआ है। इस देश की जलवायु के साथ उनका स्वभावीकरण नहीं घटा।

फिर भी यूनिवर्सिटी का प्रथम प्रतिरूप किसी दिन भारत में ही देखा गया था। नालन्दा, विक्रमशिला और तक्षशिला के विद्यालयों की स्थापना कब हुई, इस बात का निश्चित काल-निर्णय अभी तक नहीं किया गया, लेकिन यह तो स्पष्ट है कि यूरोप की यूनिवर्सिटियों के बहुत पहले उनका आविर्भाव हुआ था। उनका उद्‌गम भारत की आन्तरिक प्रेरणा में था, भारतीय स्वभाव के अनिवार्य आवेग में था। उनके पूर्ववर्ती काल में भी विद्या की साधना और शिक्षा भारत में व्याप्त थी; इस साधना के विविध रूप थे, विविध प्रणालियाँ थीं। समाज की यह सर्वत्र प्रसारित साधना ही केंद्रीभूत होकर जगह-जगह पर ये विद्यापीठ बने थे।

इनके बारे में सोचते-सोचते हमें वेदव्यास का युग और महाभारत का युग स्मरण हो उठता है। किसी दिन देश के मन में यह आग्रह जगा था कि दूर-दूर तक बिखरी हुई विद्या, मननधारा और इतिहास-परंपरा को संगृहीत और संहत किया जाए। अपने चित्त के युगव्यापी ऐश्वर्य का यदि स्पष्ट रूप से अवलोकन न किया गया तो धीरे-धीरे उसका अनादर होने लगता है और फिर वह जीर्ण तथा अपिरिचित होकर लुप्त हो जाता है। किसी समय इस आशंका के विषय में देश सचेत था, वह अपने विच्छिन्न रत्नों को सूत्रबद्ध करना चाहता था, उनको सर्वलोक और सर्वकाल के व्यवहार में प्रयुक्त करना चाहता था। अपनी विराट, चिन्मयी प्रकृति को प्रत्यक्ष रूप से समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए भारत उत्सुक था। जो चीज कुछ पंडितों के अधिकारों में आबद्ध थी उसे सर्वसाधारण तक पहुँचाने का यह एक आश्चर्यजनक अध्यवसाय था। इसमें एक प्रबल चेष्टा थी, अथक साधना थी, समग्र ग्राहिणी दृष्टि थी। 'महाभारत' के नाम से ही प्रमाणित होता है कि इसी गौरवमय उद्योग को देश की शक्तिशाली प्रतिभा ने अपना लक्ष्य बनाया था। भारत का महान समुज्ज्वल रूप जिन्होंने ध्यानपूर्वक देखा था उन्होंने ही 'महाभारत' का नामकरण किया। वह रूप विश्वव्यापी होते हुए भी आन्तरिक था- महाभारत कर्ताओं ने भारत के मन को अपने मन से देखा था। इस विश्वदृष्टि से आनन्दित होकर उन्होंने भारत में चिरकाल के लिए

शिक्षा के योग्य भूमि प्रशस्त की। वह शिक्षा धर्म, कर्म, राजनीति, समाजनीति और तत्वज्ञान में व्याप्त थी। बाद में भारत को अपने निष्ठुर इतिहास के हाथों आघात-पर-आघात मिले हैं, उसकी मर्मग्रन्थियाँ बार-बार विश्लिष्ट हुई हैं, दैन्य और अपमान से वह जर्जर हुआ है। फिर भी उस इतिहास-विस्मृत युग की कीर्ति ने इतने दिनों तक लोक शिक्षा की धाराओं को परिपूर्ण और सचल रखा है। गाँव-गाँव और घर-घर में आज भी उसका प्रभाव विद्यमान है। उस मूल प्रसारण से शिक्षा की धारा यदि लगातार प्रवाहित न हुई होती तो दु:ख, दारिद्रय और अपमान से पीड़ित देश ने बर्बरता के अंधकूप में अपना मनुष्यत्व खो दिया होता। उस प्राचीन युग में भारत के अपने सजीव और यथार्थ विश्वविद्यालयों की सृष्टि हुई थी। उसकी जीवनशक्ति का वेग कितना प्रबल था, इसका स्पष्ट आभास हमें मिलता है। जब हम देखते हैं कि दूर सागर पार जावाद्वीप में उसी शक्ति के सर्वसाधारण के समस्त जीवन को व्याप्त करके कैसे अद्‌भुत कल्पजगत का निर्माण किया। जावा की अनार्य जाति के चरित्र में, उसकी कल्पना और रूप-रचना में वह शक्ति निरन्तर सक्रिय रही है।

ज्ञान का एक पक्ष वैधायिक होता है। यहाँ पाण्डित्य का अभिमान और ज्ञान का विषय संग्रह करने का लोभ होता है। यह पक्ष कृपण के भंडार की तरह है; उसके सम्मुख किसी महान प्रेरणा को उत्साह नहीं मिलता। जिस महाभारतकालीन विश्वविद्यालय युग का मैने उल्लेख किया वह तपस्या का युग था। भंडार जमा करना उसका लक्ष्य नहीं था; उसका उद्देश्य था सर्वसाधारण के चित्त का उद्दीपन, उद्‌बोधन, चरित्र-सृष्टि। भारत के मन में परिपूर्ण मनुष्यत्व का जो आदर्श ज्ञान-कर्म हृदयभाव द्वारा जागृत हो रहा था, उसी को सर्वसाधारण के जीवन में संचारित करना - यही उद्योग उस युग में चल रहा था। यह प्रयास केवल बुद्धि तक सीमित नहीं था, आर्थिक और पारपंरिक सद्‌गति की ओर भी उसकी दृष्टि थी।

नालन्दा-विक्रमशिला विद्यालयों के संबंध में यही कहा जा सकता है। उस युग में विद्या के मूल्य को देश के लोगों ने गंभीर रूप से उपलब्ध किया था। इसमें संदेह नहीं कि इस मूल्य को संपूर्णता से केंद्रीभूत करके सार्वजनीन ज्ञानसत्र स्थापित करने के लिए भारत का मन उद्यत था। भगवान बुद्ध का धर्म अपने विविध तत्वों को लेकर, अनुशासन और साधन की विविध प्रणालियों को लेकर साधारण चित्त के आन्तरिक स्तर तक प्रवेश कर चुका था। इस बहुशाखायित, परिख्यात जनधारा को सर्वसाधारण के स्नान, पान और कल्याण के लिए किसी सुनिर्दिष्ट केंद्रस्थल की ओर बढ़ाना- यही थी देश की प्रबल कामना।

यह इच्छा कितनी सत्य थी, कितनी उदार और वेगवान थी, इसका प्रमाण हमारे प्राचीन विद्यापीठों के अनुष्ठानों में, उनके अकृपण ऐश्वर्य में मिलता है। विख्यात चीनी परिव्राजक

ह्वेनसांग ने विस्मयभरी भाषा में उन विद्या निकेतनों का वर्णन किया है, वहाँ के ऐश्वर्य का चित्र खींचा है। इस शब्द चित्र में हम देखते हैं अलंकारजड़ित स्तम्भश्रेणी, अभ्रभेदी प्रासाद-शिखर, धूप-सुगन्धित मन्दिर, छायादार आम्रवन, नीले कमलों से सुशोभित सरोवर। इन विद्यापीठों के ग्रंथागार तीन बड़े-बड़े भवनों में विभाजित थे - 'रत्न सागर', रत्नोदधि' और 'रत्न-रंजक'। 'रत्नोदधि' की नौ मंजिलें थीं। यहाँ प्रज्ञापारमितासूत्र और अन्य शास्त्र ग्रंथ सुरक्षित थे। बहुत से राजाओं ने क्रमशः इस संघ को विस्तृत बनाया था। चारों ओर उन्नत चैत्य थे, जिनके बीच शिक्षाभवन और तर्क सभा-गृह थे। प्रत्येक सरोवर के किनारों पर वेदियाँ और मन्दिर थे। जगह-जगह शिक्षकों-प्रचारकों के लिए चार मंजिला निवास-स्थान थे। उस युग के गृह-निर्माण के संबंध में डॉक्टर स्पूनर ने लिखा है कि आजकल जिस तरह की ईंटों और गारे का प्रयोग होता है उससे कहीं अच्छे उपकरण उन दिनों प्रयुक्त हुए और उस समय की योजना-पद्धति भी श्रेष्ठतर थी। ईत्सिंग ने लिखा है कि एक विद्यालय की ज़रूरतों को पूर्ण करने के लिए दौ सौ से अधिक गाँव अलग कर दिये गये थे। कई हजार छात्रों और अध्यापकों के भोजन का प्रचुर प्रबंध इन गाँवों के अधिकारी नियमित रूप से करते थे।

इन विद्यापीठों में विद्या का केवल संचय ही नहीं होता था - विद्या का गौरव भी प्रतिष्ठित था। ह्वेनसांग कहता है कि यहाँ पढ़ाने वाले आचार्यों का यश दूर-दूर के देशों तक फैल चुका था। उनका चरित्र विशुद्ध और अनिन्दनीय था। वे धर्म का अनुशासन अकृत्रिम श्रद्धा के साथ निभाते थे। जिस विद्या के प्रचार का भार उन पर था उसके प्रति सारे देश का और विदेशी छात्रों का आदर था। अध्यापकों का दायित्व था इस आदर और सम्मान को बनाये रखना - केवल बुद्धि द्वारा नहीं, जनश्रुतियों द्वारा नहीं, बल्कि चरित्र द्वारा, कठोर तपस्या द्वारा। यह इसीलिए संभव हो सका कि सारे देश की श्रद्धा को उनसे इस सात्विक आदर्श की प्रत्याशा थी। आचार्यगण जानते थे कि दूर-दूर के देशों तक ज्ञान पहुंचाने का भार उन पर था; समुद्रों और पर्वतों को पार करके, कठिन दुःख स्वीकार करके विदेशी छात्र उनके पास अपनी ज्ञान-पिपासा लेकर आते थे। सारे देश की श्रद्धा जिस विद्या पर हो उसका वितरण करने वाले अपनी योग्यता के प्रति उदासीन नहीं रह सकते थे। देश की कला-प्रतिभा ने भी अपनी श्रद्धा अर्ध्य इन विद्यालयों में अर्पित किया था। देश की शिल्पकला का उत्कर्ष इन विद्या मन्दिरों की दीवारों पर अंकित है। यहाँ भारत की कला ने भारत की विद्या को प्रणाम किया है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने योग्य है। उस समय राजाओं ने अपने महलों या विलास भवनों को विशेष समारोहों द्वारा इतिहास में स्मरणीय बनाने का यत्न नहीं किया। मैं यह नहीं कहता कि ऐसा प्रयास निन्दनीय है। साधारणतः देश का ऐश्वर्य और गौरव राजा के जीवन को केंद्र बनाकर ही व्यक्त किया

जाता है, प्रजा का सम्मान राजप्रासाद में ही कलानैपुण्य और शोभाप्राचुर्य द्वारा उज्ज्वल हो उठता है। कारण जो कुछ भी रहा हो, प्राचीन भारत में हम ऐसी चेष्टा नहीं देखते। शायद राज्यासन के ही अस्थिर होने से यहाँ विनाश के धूमकेतु ने सब-कुछ धो डाला है। लेकिन नालन्दा और विक्रमशिला जैसे स्थानों पर स्मृतिरक्षा का प्रयास बराबर किया गया। उनके प्रति देश की भक्ति थी, देश के हृदय में प्रबल वेदना थी।

अपनी सर्वश्रेष्ठ विद्या के लिए सर्वसाधारण की उदार, अकुंठित, अकृत्रिम श्रद्धा ही स्वदेशी विश्वविद्यालय का यथार्थ प्राणस्रोत थी।

इस बात की आसानी से कल्पना की जा सकती है कि ज्ञान-साधना की इस विराट यज्ञभूमि में मानव मनों का कैसा निविड़ संपर्क रहा होगा, कैसा संघर्ष चलता होगा। इस संपर्क से बुद्धि की अग्निशिखा निरंतर उज्ज्वल रहती थी। छपी हुई पाठ्यपुस्तक से 'नोट' प्रदान करके नहीं, अन्तःभरण के अविश्राम उद्यम से ही धीशक्ति का संचार होता था। विद्या, बुद्धि और ज्ञान में सर्वश्रेष्ठ लोग दूर-दूर से आकर यहाँ सम्मिलित होते थे। छात्रगण भी तीक्ष्ण बुद्धि, श्रद्धावान और योग्य थे; कठिन परीक्षा के बाद ही उन्हें प्रवेशाधिकार मिलता था। ह्वेनसांग कहता है कि इस परीक्षा में दस छात्रों के बीच दो-तीन ही उत्तीर्ण हो पाते अर्थात् तत्कालीन मैट्रिक्यूलेशन की छलनी के छिद्र बड़े-बड़े नहीं थे। सारी पृथ्वी के सम्मुख आदर्श को विशुद्ध और उन्नत रखने का दायित्वबोध जागरूक था। लोग सचेत थे, कहीं अयोग्य छात्रों को प्रश्रय देने से विद्या का अधःपतन न हो, देश की मानसिक क्षति न हो। विविध मनोप्रवृत्तियों के लोग यहाँ जमा होते- वे न तो एकजातीय थे, न एकदेशीय। एक ही लक्ष्य को सामने रखकर, एक ही जीवन-प्रणाली में वे परस्पर घनिष्ठ ऐक्य लाभ करते। विद्या के मिलन क्षेत्र में इस ऐक्य का मूल्य कितना था, यह भी ध्यान में रखना चाहिए। उस समय पृथ्वी में और भी बहुत-सी बड़ी सभ्यताओं का उद्‌भव हो चुका था; लेकिन ज्ञान की तपस्या के लिए मानव मन का ऐसा विशाल समवाय कहीं और संभव हुआ हो, यह बात सुनने में नहीं आती।

इस सफलता का मूल कारण यह था कि जिनके मन में विश्वजनीन मनुष्यत्व के प्रति गंभीर श्रद्धा थी, जिन्हें विद्या के प्रति गौरव-बोध था, वे अपनी चित्त-सम्पदा को देश-विदेश में दान करना चाहते थे - इस दान में उन्हें परम आनन्द मिलता था, और इसे वे अपना दायित्व भी समझते थे। आज, जबकि अपने प्रति, मानव के प्रति और अपनी साधना के प्रति आलस्य और अश्रद्धा की भावना है, हमें यह बात विशेष रूप से स्मरण करनी चाहिए कि मानव इतिहास में सबसे पहले भारत में ही ज्ञान का विश्वदानयज्ञ उदारतापूर्वक प्रवाहित हुआ था। बंगाल के पक्ष से एक और बात स्मरणीय है - नालन्दा में ह्वेनसांग का गुरु एक बंगाली था, उसका नाम था शीलभद्र। पहले वह बंगाल के किसी प्रदेश का राजा था,

राज त्यागकर नालन्दा जा पहुँचा था। नालन्दा के अध्यापकों में केवल शीलभद्र ही ऐसा था जो सभी शास्त्रों और सूत्रों की पूर्ण व्याख्या कर सकता था।

बौद्धकालीन भारत में जगह-जगह संघ थे। इन संघों में साधक, शास्त्रज्ञातत्ववेत्ता, शिष्यगण मिलकर ज्ञान के आलोक को प्रज्ज्वलित रखते थे, विद्या की पुष्टि-साधना करते थे। नालन्दा विक्रमशिला में हम इसी साधना की स्वाभाविक परिणति देखते हैं, इस साधना का विश्वरूप देखते हैं।

उपनिषदों के युग में भी भारत में इसी तरह के विद्याकेंद्र स्थापित हुए थे, इसका थोड़ा बहुत प्रमाण मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के अंतर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है – 'आरूणि का पुत्र श्वेतकेतु पांचाल देश की 'परिषद्' में जैवालि प्रवाहण के पास गया'। इस 'परिषद्' में देश-देश के बड़े-बड़े ज्ञानी एकत्रित होते थे। यहाँ प्रतियोगिता में विजय प्राप्त करने से बड़ी प्रतिष्ठा मिलती थी। अनुमान किया जा सकता है कि सारे पांचाल देश में उच्चतम शिक्षा की सम्मिलित व्यवस्था के लिए एक प्रतिष्ठावान था, जहाँ दूर-दूर से आए लोगों की विद्या की परीक्षा होती थी। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उपनिषद् युग में आलोचना, ज्ञान-संग्रह और तर्क-वितर्क के लिए जगह-जगह पर विद्या के आश्रय-केंद्र बने थे।

यूरोप के इतिहास में भी यही हुआ। वहाँ ईसाई धर्म के आरंभ काल में पुराने और नये धर्म में द्वन्द्व चलता रहा और नवदीक्षितों की भक्ति को निष्ठुर उत्पीड़न की परीक्षा से गुजरना पड़ा। बाद में जब धीरे-धीरे नया धर्म सर्वस्वीकृत हुआ तब पूजा-अनुष्ठानों के साथ-ही-साथ तत्व-परंपरा की धारा भी प्रभावित हुई। यदि इस तरह तात्विक बाँध न बनाया जाय तो व्यक्ति की विशेष प्रकृति से भक्ति का रूप विचित्र और विकृत हो सकता है। इसलिए तर्क और विचार समीक्षा की आवश्यकता सामने आती है। बुद्धि और ज्ञान की सहायता से ही विश्वास अपने लिए स्थायी और विशुद्ध आधार ढूँढ़ता है। फिर प्रश्न उठता है – 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। भक्ति केवल पूजा का विषय न रहकर विद्या का विषय बन जाती है। ऐसी अवस्था में यूरोप में विविध स्थानों पर आचार्यों तथा छात्रों के संघ निर्मित हुए। इनमें से अच्छे-बुरे संघों का चुनाव करना ज़रूरी हो गया। कहाँ की शिक्षा वास्तव में श्रद्धा के योग्य और प्रामाणिक थी, यह स्थिर करने का भार रोम के प्रधान धर्मसंघ पर पड़ा। साथ-ही-साथ राज्य शासन भी इस प्रश्न के प्रति उदासीन नहीं था।

सभी जानते हैं कि उस समय की विद्या-तर्कशास्त्र को प्रमुख स्थान प्राप्त था। उन दिनों पण्डितों ने स्वीकार किया था कि 'डायलेक्टिक' ही मूल विज्ञान है। इसका कारण स्पष्ट है। शास्त्रों के उपदेश वाक्यों में आबद्ध होते हैं। इन आप्तवाक्यों के सर्वसामान्य अर्थ तक पहुँचने के लिए शाब्दिक तर्क अनिवार्य हो जाता है। मध्ययुगीन यूरोप में

यह युक्तिजाल कैसा सूक्ष्म और जटिल हो उठा, सर्वविदित है। शास्त्रज्ञान की विशुद्धता के लिए ही यह न्यायशास्त्र विकसित हुआ। समाज-रक्षा के लिए और दो विधाएँ आवश्यक मानी गईं – विधान और चिकित्सा। तत्कालीन यूरोपीय विश्वविद्यालयों में इन्हीं सब विषयों को प्राधान्य मिला। नालन्दा में चिकित्साशास्त्र और शब्दशास्त्र पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। साथ-ही-साथ तंत्र भी शिक्षा का एक महत्वपूर्ण विषय था।

यूरोप में मनुष्य के आंतरिक और बाह्य परिवर्तन के साथ वहाँ के विश्वविद्यालयों में भी दो दिशाओं में मूलगत परिवर्तन हुआ। मनुष्यत्व का धर्मशास्त्र पर अवलम्बन धीरे-धीरे कम हुआ। किसी दिन वहाँ ज्ञान का क्षेत्र धर्मशास्त्र के पूर्णतया अंतर्गत नहीं तो कम-से-कम उसके अधीन अवश्य था। लंबे संघर्ष के बाद धर्मशास्त्र के हाथ से यह अधिकार छीन लिया गया। जहाँ विज्ञान के साथ शास्त्र-वाक्य का विरोध है वहाँ आज शास्त्र पराजित है, विज्ञान अपनी स्वतंत्र बेदी पर प्रतिष्ठित है। भूगोल, इतिहास आदि शिक्षणीय विषय वैज्ञानिक युक्तिपद्धति के अनुगत होकर धर्मशास्त्र के बंधनों से मुक्त हो चुके हैं। विश्व के सभी ज्ञातव्य-मन्तव्य विषयों के बारे में मानवीय जिज्ञासा आज विज्ञान-प्रवण है। 'आप्तवाक्यों' का मोह दूर हो गया है।

दूसरा परिवर्तन भाषा के संबंध में हुआ है। एक दिन लैटिन भाषा ही सारे यूरोप में शिक्षा की भाषा थी, उसी पर सारी विद्या आधारित थी। उसमें सुविधा यह थी कि सभी यूरोपीय देशों के छात्र एक स्थिर और कभी न बदलने वाली भाषा की मदद से शिक्षा लाभ कर सकते थे। लेकिन उनसे नुकसान यह होता था कि विद्या का आलोक पाण्डित्य की दीवारों को पार करके बाहर बहुत कम पहुँच पाता था। जब यूरोप के विभिन्न देशों ने अपनी-अपनी भाषा को शिक्षा के वाहन के रूप में स्वीकार किया तब शिक्षा सर्वसाधारण के बीच व्याप्त हुई। तब विश्वविद्यालय का देश के चित्त से आंतरिक योग संभव हुआ । सुनने में यह बात स्वतः विरोधी लग सकती है, लेकिन वास्तव में भाषा-स्वातंत्र्य से ही यूरोपीय विद्या में सहकारिता का आरंभ हुआ। इस स्वातंत्र्य ने यूरोप के चित्त को खंडित नहीं बल्कि संयुक्त किया है। स्वदेशी भाषाओं द्वारा विद्या को जब मुक्ति मिली, यूरोप में ज्ञान का ऐश्वर्य वृद्धिगत हुआ, पड़ोसियों और दूर देशों की ज्ञान-साधना से उसका योग स्थापित हुआ – मानो अलग-अलग खेतों का शस्य यूरोप के साधारण भंडार में एकत्रित हुआ हो। आज वहाँ के विश्वविद्यालय उदार भाव से सभी देशों के होते हुए भी विशेष रूप से अपने-अपने देश के हैं। यह मानव-प्रकृति के अनुगत ही हैं, क्योंकि मनुष्य यदि सत्यभाव से अपने आपको उपलब्ध नहीं कराता तो अपना उत्सर्ग भी नहीं कर सकता। यदि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का उत्कर्ष न हो तो विश्वनजनीता का वास्तविक दाक्षिण्य असंभव है। मध्ययुगीन एशिया में तिब्बत, चीन और मंगोलिया ने बौद्ध धर्म को ग्रहण अवश्य

किया, लेकिन अपनी भाषाओं में ही उन्होंने इस धर्म को अपनाया। इसीलिए बौद्ध धर्म इन देशों की जनता का आंतरिक धर्म बन सका और मोह के अंधकार से उनका उद्धार कर सका।

'यूनीवर्सिटी' की उत्पत्ति के संबंध में विस्तृत चर्चा का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। मैं मोटे तौर से यही कहना चाहता हूँ कि देश को विद्या के प्रति जिस विशेष स्नेह, गौरव और दायित्व का बोध होता है उसी की रक्षा और प्रचार के लिए विश्वविद्यालय का निर्माण होता है। उसका उद्‌भव सारे देश की इच्छा शक्ति से होता है – इच्छा ही सृष्टि का मूल है और इच्छा के पीछे शक्ति का ऐश्वर्य रहता है जो अदमनीय है, जो उदारता से अपने आपको व्यक्त करना चाहता है।

सभी सभ्य देशों में ज्ञान मिलता है। अतिथि को विश्वविद्यालयों में अवारित आतिथ्य मिलता है। अतिथि को वही बुलाता है जिसके पास अतिरिक्त सम्पदा हो। गृहस्थ अपनी अतिथिशाला में सारे विश्व को स्वीकार करता है। नालन्दा में भारत ने अपने ज्ञान का अन्न-सत्र खोला, देश-विदेश के सभी अभ्यागतों के लिए। उस दिन भारत ने अनुभव किया था कि उसके पास ऐसी पर्याप्त सम्पदा है जो सारी मानव-जाति को दान किए जाने पर ही चरम सार्थकता लाभ कर सकती है। पश्चिम के अधिकांश देशों में भी ऐसी अतिथि शालाएँ हैं। वहाँ ज्ञान के विश्व-क्षेत्र में मनुष्य-मात्र को अपनाया जाता है। समाज के दूसरे विभागों में भेद की प्राचीरें उठती रही हैं; केवल ज्ञान के महातीर्थ में ही मानव-जाति के लिए आमंत्रण है, क्योंकि यहाँ दैन्य स्वीकार या कृपणता किसी भी भद्र जाति के लिए सबसे अधिक आत्मलाघव की बात होती है। भाग्यशाली देशों के ज्ञान-प्रांगण सारे विश्व के लिए खुले होते हैं।

हमारे देश में यूनिवर्सिटी का सूत्रपात बाहर से मिले हुए दान से हुआ। इस दान में दाक्षिण्य कम था; उसकी राजानुचित कृपणता से देश आज तक दुखी है। इंग्लैंड के राजद्वार पर लंदन यूनिवर्सिटी की जो अतिथिशाला है, उसी की छोटी-सी शाखा हमारे गरीब देश में खोली गई। यहाँ शुरू से ही यह बात स्वीकार नहीं की गई कि भारतीय विद्या नाम की कोई चीज़ है। इसका स्वभाव पृथ्वी की दूसरी सभी यूनिवर्सिटियों के विपरीत रहा है। यहाँ दान का विभाग अवरुद्ध रहता है और ग्रहण विभाग का क्षुधित केवल सर्वदा खुला रहता है। लेकिन जहाँ आदान और प्रदान दोनों न चलते हों वहाँ प्राप्त करना असंपूर्ण रहता है। इसलिए हमारे विश्वविद्यालय ठीक तरह से कोई चीज़ ग्रहण भी नहीं कर पाते।

आधुनिक युग में जीवन यात्रा सभी दिशाओं में जटिल हो गई है। तरह-तरह की नई-नई समस्याओं से मन सर्वदा क्षुब्ध रहता है। इन विविध प्रश्नों के विविध उत्तर, वेदनाओं की विविध अभिव्यक्तियाँ समाज में तरंगित रहती हैं, साहित्य में विचित्र रूप धारण करती हैं। विश्वविद्यालयों में युग-युग के स्थायी आदर्शों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाता है,

लेकिन प्रचलित साहित्य में प्रवाहमान चित्त की चंचलता प्रकाशित होती रहती है। पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में चित्त मंथन के इस बाह्य स्वरूप के साथ भी योग बना रहता है – वहाँ मानवीय शिक्षा की ये दो धाराएँ गंगा-यमुना की तरह मिल जाती हैं। यह इसलिए संभव होता है कि वहाँ समस्त देश का एक ही चित्त देश की विद्या का अविच्छिन्न रूप से निर्माण करता है, जिस तरह पृथ्वी पर जो सृजन क्रिया चलती रहती है वह जल और स्थल दोनों में सक्रिय होती है।

शायद अधिकतर लोग जानते होंगे कि आजकल इंग्लैंड के विश्वविद्यालय में शिक्षा-विस्तार का विशेष रूप से प्रयास चल रहा है जिससे वर्तमान युग की उन्नति में विश्वविद्यालय भी अपने कदम मिलाकर आगे बढ़ सकें। पिछले यूरोपीय महायुद्ध के बाद ऑक्सफोर्ड में दर्शन, राजनीति और अर्थनीति की आधुनिक धाराओं की चर्चा की जाने लगी है। युनिवर्सिटी का प्रयत्न है कि उन लोगों की सहायता की जाए जो अच्छी तरह यह जानना चाहते हैं कि चारों ओर क्या हो रहा है, समाज किस दिशा में जा रहा है । मैन्चेस्टर यूनिवर्सिटी में आधुनिक अर्थशास्त्र और इतिहास की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। वर्तमान युग में चिंतन तथा कर्म दोनों ही क्षेत्रों में जो द्वन्द्व और संघात चल रहा है उसको देखते हुए इस तरह की आधुनिक शिक्षा अत्यन्त उपयुक्त है। इसके फलस्वरूप छात्र-छात्राएँ अपने कर्तव्य और जीवन अवस्था के लिए प्रस्तुत हो पाते हैं।

भारत में विदेश से प्राप्त विश्वविद्यालयों के साथ देश का इस तरह आन्तरिक मिलन हो ही नहीं सकता। इसके अलावा यूरोपीय विद्या भी हमारे देश में अचल जलाशय की तरह है, उसका गतिशील रूप हम देख नहीं पाते। जिन मतवादों में बहुत ही शीघ्र परिवर्तन आने वाला है, वे भी हमारी दृष्टि में अटल सिद्धांत हैं। हमारा सनातन मुग्ध मन चन्दन और पुष्प चढ़ाकर उनकी पूजा करता है। यूरोपीय शिक्षा को हम स्थावर रूप में प्राप्त करते हैं, उसमें से कुछ वाक्यों का चयन करके उनकी आवृत्ति करते रहने को ही हम आधुनिक पाण्डित्य की पद्धति मानते हैं। तभी उस विद्या के संबंध में नवीन चिन्तन का साहस हममें नहीं होता। देश की जनता के सारे दुरूह प्रश्नों से महत्वपूर्ण प्रयोजनों और तीव्र वेदनाओं से हमारे विश्वविद्यालय विच्छिन्न हैं। यहाँ दूर की विद्या पर हम अधिकार करना चाहते हैं – उसका जड़ पदार्थ की तरह विश्लेषण करके, समग्र की उपलब्धि द्वारा नहीं। हम अलग-अलग वाक्यों को कण्ठस्थ करते हैं और ऐसी खंडित विद्या के आधार पर परीक्षाएँ पास करके निष्कृति पाते हैं। पाठ्यपुस्तकों से चिपका हुआ हमारा मन पराश्रित प्राणियों की तरह अपना खाद्य अपने आप संगृहीत करने की शक्ति खो चुका है।

अंग्रेज़ी हमारी प्रयोजन सिद्धि की भाषा है, इसीलिए हमारी शिक्षा इस विदेशी भाषा के प्रति हमारे लोभ पर केंद्रित है। यह प्रेमी की प्रीति नहीं, कृपण की आसक्ति है। हम जब अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ते हैं, हमारा मुख्य उद्देश्य होता है

अंग्रेज़ी भाषा पर अधिकार प्राप्त करना- अर्थात् हमारा मन फूल के कीड़े की तरह है, मधुकर की तरह नहीं। भीख माँगकर जो दान प्राप्त करते हैं उसकी सूची बनाकर हम इम्तहान में बैठते हैं। यह परीक्षा परिमाणात्मक होती है, गुणात्मक नहीं। ऐसी परीक्षा के लिए वज़न के हिसाब से हम शिक्षार्जन करते हैं। यदि विद्या को बाह्य वस्तु के रूप में ही देखा जाए तो उसे चित्त की सम्पदा समझना अनावश्यक हो जाता है। ऐसी शिक्षा के न तो दान में गौरव है, न ग्रहण में। लेकिन इस दैन्यावस्था में कभी-कभी ऐसे शिक्षक देखने में आते हैं जिनके लिए शिक्षादान स्वभावसिद्ध होता है। वे अपने गुण से ही ज्ञान-दान करते हैं, अपने अन्तःकरण से शिक्षा को निजी सामग्री बनाते हैं; उनकी प्रेरणा से छात्रों में मनन-शक्ति का संचार होता है। विश्वविद्यालय के बाहर, जीवन के क्षेत्र में, उनके छात्रों की विद्या फलवती होती है।

सार्थक विश्वविद्यालय वही है जो ऐसे शिक्षकों को आकर्षित करता है, जहाँ शिक्षा की सहायता से मनोलोक की सृष्टि होती है। यह सृष्टि ही सभ्यता का मूल है। लेकिन हमारे विश्वविद्यालयों में इस श्रेणी के शिक्षक न होने से भी काम चलता है – शायद और भी अच्छी तरह चलता है। यहाँ परीक्षा-पद्धति की दृष्टि आहरण पर होती है, फलन पर नहीं। दैन्य की निष्ठुर बाध्यता से ऐसी शिक्षा के प्रति देश का मोह है, भक्ति नहीं। इसलिए शिक्षकों-छात्रों के उद्यम को परिपूर्ण रूप से सतर्क रखने का कोई प्रयोजन ही यहां नहीं देखा जाता। देश की प्रत्याशा उच्च नहीं है; बाज़ार भाव के हिसाब से परीक्षा में जितने अंकों की मांग की जाती है उनकी कीमत सत्य के निकष पर बहुत सामान्य उतरती है। अमूल्य विद्या को सत्य बनाने के लिए जो श्रद्धा चाहिए उसकी रक्षा करना कठिन हो जाता है और विश्वविद्यालय की मज्जा में शैथिल्य प्रवेश करता है।

देश के अभाव को दूर करने के लिए विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाती है। इस संबंध में जापान का उल्लेख किया जा सकता है। जापान ने स्पष्ट रूप से समझ लिया कि आधुनिक यूरोप जिस विद्या के प्रभाव से विश्वविजयी हुआ है उस पर अधिकार प्राप्त न किया गया तो पराजय अनिवार्य है। यह बात समझते ही जापान ने प्राणपण से प्रयत्न करके अपने नवप्रतिष्ठित विश्वविद्यालय को यूरोपीय विद्या का पीठ स्थान बनाया। उसकी एकमात्र आकांक्षा यही थी कि विद्या साधना की दृष्टि से आधुनिक मानव समाज में वह पीछे न रहे। देश के शिक्षा दान-कार्य की सिद्धि के आदर्श को छोटा बनाकर अपने आपको वंचित रखने की कल्पना जापान के लिए असह्य थी। हमारे देश में विद्या की सफलता का आदर्श कृत्रिम है और वह भी बड़े अंश तक परकीयों के हाथ में है। विदेशी शासक अपने उपस्थित प्रयोजनों के हिसाब से शिक्षा के प्रश्न पर थोड़ा-बहुत ध्यान देकर ही संतुष्ट हो जाते हैं।

जापान में विद्या को सत्य बनाने की तीव्र इच्छा इसी से व्यक्त होती है कि स्वदेशी भाषा

को शिक्षा क्षेत्र में स्वीकार करने में विलम्ब नहीं किया गया। सर्वसाधारण की भाषा के आधार पर जापान ने विश्वविद्यालय को सबके लिए उपयुक्त संस्था बनाया। इससे शिक्षित और अशिक्षित लोगों के बीच चित्त-प्रसारण का मार्ग प्रशस्त हुआ। तभी आज वहाँ देश भर में बुद्धि की ज्योति दीप्तिमान है।

हमारे देश में जब मातृभाषा को शिक्षा के आसन पर प्रतिष्ठित करने का सुझाव दिया गया तब अंग्रेज़ी जानने वाले विद्वान बेचैन हो उठे। उन्हें आशंका थी कि जिन थोड़े-से लोगों को अंग्रेज़ी भाषा का व्यवहार करने का सुयोग प्राप्त है उनका अधिकार कम न हो जाए। दरिद्र की आकांक्षा भी दरिद्र ही होती है।

यह मानना पड़ेगा कि जापान स्वाधीन देश है; वहाँ के लोगों ने विद्या का जो मूल्य स्थिर किया है उसे चुकाने में वहाँ कृपणता नहीं दिखाई जाती और हमारे अभागे देश में पुलिस और सेवा विभागों के भोज की बची हुई उच्छिष्ट सामग्री से ही विद्या का किसी तरह समाधान किया जाता है। हमें अपने कपड़े के छिद्रों को जोड़ लगाकर ढाँकना पड़ता है। गौरव का प्रश्न ही नहीं उठता, बड़ी मुश्किल से लज्जा निवारण होता है। लोगों के सामने मान रक्षा करने भर के लिए हमारे पास आवरण है। जीर्ण ही सही, लेकिन कपड़ा है अवश्य!

यह बिलकुल सच बात है। लेकिन इसके विषय में शिकायत करते रहना बेकार है। यदि हम पराधीनता को कोसते रहें और निचेष्ट हो जायें तो इससे कोई काम नहीं निकलेगा। तूफान आने पर जहाज के कर्ण को और भी अधिक सावधानी से संभालना होता है। जिस विद्या को आज तक हमने विदेशी नीलामी में सस्ते दाम पर खरीदे हुए टूटे-फूटे बेंच पर बिठाए रखा है उसे अब स्वदेश की चित्तवेदी पर आदर का स्थान देना होगा। विश्वविद्यालय को जब हम सही अर्थ में स्वदेशी की सम्पदा बना सकेंगे तभी इस विषय में देश का यह कर्तव्य पूर्ण होगा - 'श्रद्धया देयम' (श्रद्धा के साथ दान करना चाहिए)। श्रद्धा का अन्न प्राणशक्ति को जागृत करता है।

बहुत दिनों तक अंग्रेज़ी भाषा का पिंजरा स्थायी रूप से हमारे राजद्वार पर सुरक्षित था। इसका द्वार खोलकर देश की चित्तशक्ति के लिए नीड़ प्रस्तुत करना होगा। इस बात को सर्वप्रथम समझा आशुतोष ने। अपनी शक्ति से इस जड़त्व को विचलित करने का साहस उनमें था। सनातनपंथी देश में विश्वविद्यालय की पुरानी प्रथा को छोड़कर बंगला भाषा को स्थान देने का प्रस्ताव उनके ही मन में पहले-पहल उठा। भीरू और लोभी लोगों के तर्क तथा विरोध का सामना उन्हें करना पड़ा। यह सच है कि बंगला अभी तक संपूर्ण रूप से शिक्षा की भाषा बनने योग्य नहीं हुई क्योंकि उसमें उतनी परिपक्वता नहीं है। लेकिन आशुतोष जानते थे कि इस अपरिपक्वता का कारण बंगला का अपना दैन्य नहीं, वरन् उसकी वर्तमान अवस्था का दैन्य है। श्रद्धा और साहस के साथ यदि उसे शिक्षा का आसन दिया गया तो वह अपने आपको इस आसन

के योग्य बना लेगी। इसे यदि हम बिलकुल ही असंभव मानें तब तो विश्वविद्यालय सदा के लिए विलायती 'टब' का पौधा बना रहेगा – वह टब मूल्यवान हो सकता है, अलंकृत हो सकता है, लेकिन पेड़ को तो वह भारत की मिट्टी से पृथक ही रखेगा। ऐसी हालत में विश्वविद्यालय देश के लिए एक शौक की चीज़ बनेगी, प्राण की चीज़ नहीं।

इसके अतिरिक्त आशुतोष ने, विश्वविद्यालय का गौरव बढ़ाने के लिए, परीक्षाओं की अन्तिम सीढ़ी से भी ऊपर अन्वेषण विभाग स्थापित किया – विद्या की फसल जमा करने का नहीं बल्कि उगाने का विभाग! सहायकों की कमी, अर्थ का अभाव, अपने-पराये अनेक लोगों की प्रतिकूलता – कोई बाधा उन्हें रोक न सकी। विश्वविद्यालय में आत्म-श्रद्धा का आविर्भाव हुआ। आशुतोष को विश्वविद्यालय के प्रति आन्तरिक लगाव था, उस पर उन्हें गर्व था। इसी गर्व से उनमें यह विश्वास जागृत हुआ कि सारा देश इस विश्वविद्यालय को अपनी निजी वस्तु समझेगा।

विश्वविद्यालय और देश के बीच जो दीवार थी उसमें से आवागमन का मार्ग निकालने के लिए आशुतोष प्रयत्नशील थे। उसी प्रवेश-पथ से आज मेरे जैसे आदमी के लिए यहाँ अकुंठित मन से आना संभव हुआ है। मेरा परम सौभाग्य यह है कि विश्वविद्यालय को स्वदेशी भाषा की दीक्षा देने के पुनीत अनुष्ठान में मेरा भी थोड़ा-बहुत हाथ रहा है, और मेरा नाम इसके साथ जुड़ा रहेगा। स्वदेशी भाषा की मैंने जो आजीवन साधना की है उसके प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए ही विश्वविद्यालय ने आज मुझे अपने आसन पर स्थान दिया है। दो युगों के संधिस्थल पर मुझे एक चिह्न की तरह रखा गया है। मैं देखता हूँ कि मुझे यथारीति 'अध्यापक' की पदवी दी गई है। यह पदवी आदरणीय है, लेकिन मुझे यह पदवी प्रदान करना असंगत लगता है। इसका एक दायित्व है, जिसे मैं स्वीकार नहीं कर पाता। साहित्य की प्राचीन समस्याएँ शब्दों की उत्पत्ति और विश्लिष्ट उपादान – ये सब बातें मेरी अभिज्ञता से बाहर हैं। मैं केवल साहित्य के अखंड रूप का, उसकी गति और इंगित का, अध्ययन करता हूँ। जब मैं सत्रह वर्ष का था, अंग्रेज़ी भाषा की जटिल गुहा में बड़ी मुश्किल से राह टटोल पाता था। फिर लगभग तीन मास के लिए लन्दन यूनीवर्सिटी में साहित्य की क्लास में भर्ती हुआ। हमारे अध्यापक थे शुभ्रकेश, सौम्यमूर्ति हेनरी मॉले। वे साहित्य पढ़ाते थे, उसके अन्तरतम रस का दान करने के लिए। शेक्सपियर का 'कोरायोलनस', टॉमस ब्राउन का 'बेरियल अर्न' और मिल्टन का 'पॅराडाइज़ रीमेण्ड' हमारे पाठयक्रम में थे। नोट्स की सहायता से मैं स्वयं इन पुस्तकों को पढ़कर तब क्लास में आता जिससे अर्थ ग्रहण करना सरल हो सके। अध्यापक क्लास में बैठकर नोटबुक की मूर्ति नहीं बन जाते थे। जिस काव्य की चर्चा करते उसका चित्र उनकी बातों से खिंच जाता, वे अत्यन्त सरस भाव से कविता पाठ करते। कविता में शब्दार्थ से

कहीं अधिक जो मर्म होता है वह उनके कंठ से व्यक्त होता। बीच-बीच में कठिन पंक्तियों को भी जल्दी-जल्दी समझा देते, पठन-धारा खंडित न हो पाती।

साहित्य शिक्षा का एक आनुषंगिक लक्ष्य यह भी होता है कि छात्रों में रचना शक्ति का विकास हो। यह दायित्व भी वे निभाते। साहित्य-शिक्षा का मुख्य कार्य भाषा-तत्व सिखाना नहीं, साहित्य के जटिल प्रश्नों का विवेचन नहीं, बल्कि रस का परिचय देना और रचना में भाषा का व्यवहार समझाना है। आर्ट शिक्षा का कार्य आर्कियोलॉजी -आइकोनोग्राफ़ी नहीं, आर्ट के आन्तरिक स्वरूप की व्याख्या करना है। सप्ताह में एक दिन हेनरी मॉर्ले अपने छात्रों की रचनाओं की समीक्षा करते - पदच्छेद, पैराग्राफ़ लेखन, शब्द-प्रयोग की सूक्ष्म त्रुटियाँ और सुन्दरता, इन सबकी आलोचना करते। साहित्य और भाषा का स्वरूप बोध - उसकी 'तकनीक' का परिचय और विवेचन - साहित्य-शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है । यह बात मैंने उन्हीं की क्लास में समझी।

आज यदि मेरी आयु इतनी अधिक न होती, और मैं साहित्य शिक्षा के कार्य पर नियुक्त होता, तो इसी आदर्श के अनुसार काम करने का मेरा प्रयास होता। संभव है, मेरे प्रयत्नों का परिणाम दु:खद होता - मेरे प्रति न तो अधिकारी बहुत दिनों तक सहिष्णु रह पाते, न छात्रगण। लेकिन अब यह संभावना नहीं रही।

आज मेरे जीवन के अंतिम पर्व में मुझसे किसी रीति मत कर्म पद्धति की प्रत्याशा करना अधर्म होगा, उससे अनिष्ट होगा। इस आयु में मुझे बंगला अध्यापक के सुलभ संस्करण के रूप में प्रयुक्त किया गया तो उससे क्षति होगी। मेरे लिए भी वह स्वास्थ्यप्रद न होगा। मैं जानता हूँ आज कलकत्ता विश्वविद्यालय को बंगवाणी - सरस्वती के मंदिर द्वार तक ले जाने का भार मुझ पर है। यह बात ध्यान में रखकर मैं उसका अभिवादन करता हूँ। मेरी कामना है कि आज जब धूम्र मलिन निशीथ-प्रदीप के बुझने का समय आ गया है, बंगदेश के चित्ताकाश में नव सूर्योदय के आगमन को यथार्थ स्वदेशी विश्वविद्यालय भैरव राग से घोषित करे, और बंगदेश की प्रतिभा को नवसृष्टि के पथ पर निर्देशित करके उसे अक्षय कार्तिलोक तक पहुँचा दे ।

(बंगला के प्रोफ़ेसर के रूप में दिसम्बर 1932 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिया गया भाषण कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'शिक्षा' (विश्वभारती संस्करण) पुस्तक में समाविष्ट।)